

“भारतीय लोकतंत्र और उसकी विकास यात्रा”

डॉ. दिनेश कुमार पाण्डेय¹

सहा.प्राध्यापक (इतिहास)

शास.श्यामा प्रसाद मुखर्जी महा0 सीतापुर जिला –सरगुजा छ0ग0

डॉ. अनुराधा सिंह²

सहा.प्राध्यापक (राजनीति)

शास.श्यामा प्रसाद मुखर्जी महा0 सीतापुर जिला –सरगुजा छ0ग0

आजादी के पहले कम से कम तीस वर्षों तक समुचा भारत जिस एक व्यक्ति की सोच के इर्द-गिर्द घुमता रहा, वह व्यक्ति था – मोहनदास कमरचंद गांधी। वह राष्ट्रपिता भी थे और महात्मा भी। लोकतंत्र के बारे में इस महात्मा की अवधारणा पश्चिम से बिल्कुल भिन्न थी। वह हिन्दुस्तान की परंपरा में लोकतंत्र की जड़ें तलाषते थे। स्वदेशी और स्वावलम्बन उनके लोकतंत्र के बुनियादी तत्व थे। रामराज्य उनका आदर्श था और अपने आप को वह एक विषुद्ध सनातनी हिन्दु मानते थे। वर्ण व्यवस्था के वह आलोचक थे और समर्थक भी। बदलते समय और विचारों में निरंतर बदलाव के वह इस कदर कायल थे कि मृत्यु से पूर्व अपने बारे में अंतिम राय निर्मित करने वालों को इसकी इजाजत देना उन्हें मंजूर नहीं था।(1) बावजूद इसके, पानी के जहाज से यात्रा करते समय 1909 में हिन्द स्वराज नाम की पुस्तिका में व्यक्त अपनी विचारों से वह जीवन के आखिरी दिनों में भी टस से मस नहीं होना चाहते थे।(2) उनके लोकतंत्र की आखिरी इकाई भारत के गांव थे और इन्हीं गांवों की परंपरागत व्यवस्था में कुछ सुधार कर वह भारतीय लोकतंत्र का महल खड़ा करना चाहते थे। पंडित नेहरू की दृष्टि भिन्न थी। उन पर 1917 के सोवियत समाजवादी क्रांति का भी असर था और उदारतावादी लोकतांत्रिक प्रस्थापनाओं का, इससे महात्मा गांधी के असली वारिस नेहरू ही थे कोई और नहीं। गांधी और नेहरू के बीच के इस अजीबोगरीब रिश्ते के कारण जो अंतर विरोध पैदा हुआ था उसकी झलक भारतीय लोकतंत्र में भी दिखाई पड़ी।

अम्बेडकर जैसों को गांधी पसंद नहीं थे, तो शायद इसकी एक बड़ी वजह हिन्दुस्तान की गांव व्यवस्था थी, जिसके प्रति गांधी का प्रेम था और अम्बेडकर को नफरत। उन्हें हिन्दुस्तान के गांवों में वर्ण व्यवस्था, दलितों के प्रति हेय दृष्टि, अछूतपन की समस्या और अंततः समाज के अंतिम पायदान पर रहने वाली करीब आधी से भी ज्यादा आबादी के तिरस्कार के अलावा और कुछ दिखाई नहीं पड़ता था। गांधी भी इसके खिलाफ थे और उनकी नजर लगातार इस सामाजिक विषमता पर थी। लेकिन वह सवर्णों का हृदय परिवर्तन कर इसे खत्म करना चाहते थे, जबकि अम्बेडकर यह काम दलितों के संगठन, शिक्षा और संघर्ष के जरिए करना चाहते थे।⁽³⁾ दलित समाज को गांधी में उनकी 'लंगोटी' दिखती थी जबकि अम्बेडकर में 'टाई'। चूंकि दलितों के पास 'लंगोटी' थी और 'टाई' नहीं, इसलिए उनका झुकाव टाई की ओर हो गया बाद के दिनों में दलितों में गांधी के प्रति अनादर और अम्बेडकर के प्रति आदर की स्थिति दिखी तो शायद इसकी वजह यही थी क्योंकि भारतीय लोकतंत्र को इस अंतर विरोध से गुजरना ही था। पंडित नेहरू इसको बखूबी समझते थे। सोच, विचार, परिवेष और पृष्ठभूमि की तमाम विभिन्नताओं के बावजूद भारतीय राजनीति में डॉ. लोहिया नाम की जो धारा बही वह भी कुल मिलाकर 'रिपब्लिकन अम्बेडकर' का 'सोसलिस्ट संस्करण' ही था। चाह कर भी वह भारतीय लोकतंत्र में कोई नई दृष्टि न दे सकी।⁽⁴⁾

यदि हम लोकतंत्र के विकास को ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो पाएंगे कि यूरोप में और भारत में लोकतंत्र के आने के आधार अलग-अलग वैचारिक सोच से आते हैं। हमारे अपने इतिहास में देखें तो पाएंगे कि मास या मासेज, माब, क्राउड आदि जैसे शब्द सिरे से नदारद हैं या फिर उनके अर्थ कम से कम वैसे नकारात्मक नहीं हैं जैसे वह समाज विज्ञान और सोशल थियरी में ग्रहण कर लेते हैं। यहां तक कि पीपल के पर्याय के रूप में जन या जनता बहुत नया शब्द है जो लोक की तरह या बांग्ला के जनगण और उर्दू के आवाम (आम का बहुवचन) की तरह ही सकारात्मक अर्थ में इस्तेमाल होते हैं। यह तमाम पद 19वीं सदी के अंत या 20वीं सदी के शुरूआती साल में या तो गढ़ें जाते हैं या तो एक अन्य इतिहास से खोद कर लाए जाते हैं और नए जमाने की, आधुनिक राजनीति की जरूरतों को पूरा करने के लिए नए सिरे से इस्तेमाल होते हैं। लोक शब्द इसका अच्छा उदाहरण है जिसका एक बहुत

लम्बा इतिहास है मगर जिसका लोकतंत्र और लोकप्रिय में इस्तेमाल एक बिल्कुल नई अवस्था की तरफ इशारा करता है। इसी तरह न तो उर्दू का शब्द हुजूम और न हिन्दी का भीड़ ही कभी नकारात्मक अर्थों में इस्तेमाल किए जाते हैं।(5) कुछ बहुत हाल के इस्तेमाल में भीड़तंत्र जैसे शब्द जरूर चलन में आ गये हैं मगर कुल मिलाकर यह भी बहुत अलग अर्थ रखते हैं। मिसाल के तौर पर गांधी अपने अंग्रेजी के लेखों में बेकाबू या अनियंत्रित आचरण (अनरूली विहेविअर) के लिए माबोक्रेसी शब्द का इस्तेमाल करते हैं। संदर्भ दिलचस्प है असहयोग आंदोलन के दौरान उन्हें देखने उमड़ पड़ी का बेकाबू हो जाना गांधी जी को नागावार गुजरा। उसी से परेषान होकर उन्होंने बयान दे डाला। कभी कभी वे कांग्रेस के नेतृत्व में चल रहे आंदोलनों को भी 'माब' कह दिया करते थे मगर उस भीड़ के साथ उनका रिश्ता अदावत का न होकर शिक्षक का हुआ करता था।(6) जाहिर है कि क्राउड थियरी या मास सोसायटी के सिद्धांतकारों के अर्थ से यह बिल्कुल अलग है।

अगर हम 1857 के महाविद्रोह पर नजर डाले, जो आधुनिक काल में हिन्दुस्तान का पहला बड़ा जनान्दोलन होने का दावा कर सकता है, तो उसमें कहीं भी हमें इस तरह के पद इस्तेमाल में आते नहीं दिखते।(7) यहां तक कि इस विद्रोह के बहुत बाद के जनान्दोलनों में भी जैसे 1905–1911 के स्वदेशी आंदोलन में या 1920 की खिलाफत आंदोलन में भी हमें ऐसे शब्द सुनने को नहीं मिलते। जिनके अर्थ दूर-दूर तक क्राउड या मासेज के नजदीक आते हों।(8) स्वदेशी आंदोलन के दौरान सामाजिक बहिष्कार के संदर्भ में बनने वाली सहमति के लिए रवीन्द्रनाथ ठाकुर लोक-सम्मति शब्द इस्तेमाल करते हैं।(9) यह शब्द भी निःसंदेह किसी भी मायने में नकारात्मक अर्थ नहीं रखता। इसी दौर में कई नए शब्द प्रचलन में आने लगते हैं— जैसे जनता, मजदूर, किसान जो अक्सर जाति समाज से संबंधित पदों के साथ-साथ राजनीतिक शब्दावली का हिस्सा बन जाते हैं।

जैसा भी हो, हमारे यहां क्या नहीं हुआ, बल्कि यह जानना ज्यादा जरूरी है कि वास्तव में यहां क्या हो रहा था। इस संदर्भ में गौरतलब यह है कि हमारे यहां औपनिवेशिक शासन के चलते बहुत जल्दी ही विदेशी शासन के विरुद्ध एक व्यापक राष्ट्रीय एकता का ताना-बाना बुना जाने लगा। 19वीं सदी के आखिरी दो दशकों में राष्ट्रवाद का

कलेवर उभर कर आना शुरू होता है। यद्यपि 1857 से ही बर्तानिया और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के खिलाफ विरोध के समवेत स्वर सुनाई दे रहे थे। यूरोप के संदर्भ में देखे तो फ्रांसीसी क्रांति के बाद पूरी 19वीं सदी में यूरोप भर में राष्ट्रवाद का उदय देखने को मिलता है जिसके चलते, एकीकरण के जरिए आज के यूरोपीय राष्ट्र-राज्य वजूद में आते हैं। लेकिन यूरोप के संदर्भ में सामूहिक बेदखली की जो बेहद हिंसात्मक प्रक्रिया चली और जिसके चलते प्राक्-आधुनिक समुदाय नेस्तानाबूत हो गये— उसी प्रक्रिया में शहरी समाज का वह चरित्र भी पैदा किया जो भीड़ में अकेला, हर लगाव से आजाद, वह आदमी था जिसे हान्ना अरेंट 'मास मैन' या भीड़ का आदमी कहती है। यह भीड़ का अकेला आदमी, बकौल अरेंट हर तरह के लामबंदी के लिए हमेशा उपलब्ध रहता है चाहे वे राष्ट्रवादी लामबंदियां हो चाहे 20वीं सदी की कम्युनिस्ट व फासिस्ट लामबंदियां। राष्ट्रवाद यूरोपीय समाजों में इन्हीं सम्पत्ति विहीन, जड़विहीन लोगों को भविष्य के कथित राष्ट्रीय समाज में बराबरी की जगह देने का वायदा करके वजूद में आता है। इस समय तक यूरोपीय समाजों में लोकतंत्र का दूर-दूर तक नामों-निषान नहीं था। इस संदर्भ में देखें तो राष्ट्रवाद इन समूहों को राजनीति में शामिल होने की दावत देता है। राष्ट्रवाद इस तरह एक मास (जन) सियासत (राजनीति) की शुरुआत करता है।(10)

हिन्दुस्तान में औपनिवेशिक शासन के बावजूद प्राक्-आधुनिक समुदायों को उनकी जमीन आदि से बेदखल नहीं किया जा सका क्योंकि शुरू से ही उसे बड़े पैमाने पर आदिवासी व किसान विद्रोहों का सामना करना पड़ा। खुद ब्रिटेन के अंदर तबतक औपनिवेशिक शासन के स्वरूप पर सवालिया निषान लगने शुरू हो गये थे।(11) जबतक उपनिवेशवाद ने देश में अपने पैर जमाये तबतक उसके खिलाफ राष्ट्रवादी लामबंदी शुरू हो चुकी थी। 1905 का बंगभंग यानी बंगाल विभाजन के खिलाफ स्वदेशी आंदोलन एक बड़े जन आंदोलन के रूप में उभरा जो छः सालों तक चला। एक और बात हुई जो बहुत अधिक महत्व रखती है। 20वीं सदी के शुरुआत से ही किसी न किसी रूप में प्रतिनिधित्वकारी संस्थाओं की नींव रखी जाने लगी थी। और यह प्रयास विदेशी शासन के पहल पर शुरू हुआ (क्योंकि इसी के जरिए वह वैधता हासिल करना चाहता था) इसके दूरगामी परिणाम हुए। एक तरफ राष्ट्रवाद के जरिए आवाम के लामबंदी और दूसरी तरफ प्रतिनिधित्वकारी राजनीति के दबावों

ने मिलकर एक ऐसी हालात पैदा की जिसमें कुलीन-अभिजनों की किस्मत आमलोगों की जिंदगियों से गहरे ढंग से उलझ गई। राष्ट्रवादी नेताओं के लिए उपनिवेशवाद के खिलाफ व्यापक एकता गढ़ने का काम सबसे बड़ा काम बन गया इसी वजह से हिन्दुस्तान में अभिजन और बहुसंख्यक गरीब आबादी के बीच रिश्ता अदावत का नहीं बना। सम्पत्तिवान चाह कर भी वह रास्ता अख्तियार नहीं कर सकते थे जिसे यूरोप के इलीट ने अपनाया था। यहां शायद अंतोनियो ग्राम्शी जिसे राष्ट्रीय –लोकप्रिय मोर्चा कहते हैं, उसका एक रूप दिखाई देता है। यह पद उस ऐतिहासिक स्थिति को रेखांकित करता है जिसने अपने सारे अंतरविरोधों और अंतरूनी संघर्षों के बावजूद अभिजन-कुलीन वर्गों और बुद्धिजीवियों से लेकर गरीब किसानों और मजदूरों तक के बीच व्यापक एकता वक्त की जरूरत बन गई।⁽¹²⁾ बल्कि हमें इस स्थिति को इस तरह समझना चाहिए कि उपनिवेशवाद अपने वक्त में इन समाजों की ऐतिहासिक संभावनाओं और सीमाओं को एक साथ रचता है। यही कारण है कि हमारे जैसे समाजों में जहां जन आंदोलन होते रहते हैं वहां राष्ट्रवाद शुरू से ही एक साथ जनवादी और जनतांत्रिक अंदेसे साथ लेकर चलता है।

यही कारण है कि देश की आजादी के बाद जब 26 जनवरी 1950 में भारतीय गणतंत्र के उद्घाटन की पूर्व बेला पर संविधान की मसविदा समिति के सभापति डॉ.भीमराव अम्बेडकर ने उम्मीद और अंदेसों के बीच झुलते हुए कहा था—

“जनवरी की 26 तारीख को हम अंतर्विरोधों के युग में प्रवेश करेंगे।

राजनीति में समता और सामाजिक-आर्थिक जीवन में विषमता होगी।

राजनीति में हम एक व्यक्ति की कीमत एक वोट के आधार पर

आंकेंगे।लेकिन सामाजिक और आर्थिक जगत विषमता मूलक

संरचनाओं के कारण हम एक व्यक्ति एक मूल्य का उसूल नकारना

जारी रखेंगे। अंतर्विरोधों की इस गिरफ्त में हम कब तक फंसे रहेंगे?

सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में समानता को हम कब तक टुकराते

रहेंगे? अगर हमने लंबे अरसे तक समानता का अस्वीकार जारी रखा

तो इसका नतीजा हमारे राजनीतिक लोकतंत्र के संकटग्रस्त होने में

ही निकलेगा।⁽¹³⁾

आजादी के बाद भारत ने जिस तंत्र को अंगीकार किया वह मूलतः संवैधानिक लोकतंत्र था। पहले धर्मनिर्पेक्षता तथा लोकतंत्र और बाद में समाजवाद जैसे शब्द इस संवैधानिक लोकतंत्र की बुनियाद बने। संविधान की सर्वोच्चता स्थापित करते हुए लोकतंत्र को चलाने के लिए कई ढांचागत प्रयास किए गए। जाति, धर्म, क्षेत्र और लिंग के आधार पर होने वाले भेदभाव को नकारा गया लेकिन आरक्षण जैसे प्रावधानों को बरकरार रखना उचित समझा गया। कल्याणकारी राज्य और सार्वजनिक क्षेत्र की सर्वोच्चता स्थापित करते हुए निजी क्षेत्र को भी तरजीह दी गई। मिश्रित अर्थव्यवस्था के तहत एक खास तरह की मिश्रित राजनीति विकसित हुई। यह राजनीति बहुदलीय प्रणाली की पैरोकार भी थी, और एक दलीय वर्चस्व की हिमायती भी। मजबूत विपक्ष की अवधारणा उसे पसंद थी लेकिन इतनी भी नहीं कि विपक्ष की स्वतंत्र –स्वायत्त सत्ता कायम हो जाए। विपक्ष को वह सत्ता पक्ष में ही समाहित कर आगे बढ़ना चाहती थी। शायद इसीलिए लंबे समय तक विपक्ष हासिए पर रखा और कांग्रेस नाम की सत्ताधारी पार्टी में ही 'अंतर्निहित' विपक्ष की स्थिति बरकरार रही। हमारा लोकतंत्र सिद्धांततः ऊपर से नीचे तक विकेन्द्रीकरण का पक्षधर तो था लेकिन व्यवहारतः यह पक्षधरता सत्ता के विकेन्द्रीकरण को बनाए रखने का मात्र एक नारा बनकर रह जाती थी। इस केन्द्रीकृत विकेन्द्रीकरण के चलते हमारे लोकतंत्र का जो भी रूप स्वरूप बना, उसके तीन खम्भे घोषित किए गए। न्यायपालिका, विधायिका और कार्यपालिका इन तीन खम्भों को संवैधानिक मान्यता दी गई। भारतीय प्रेस को चौथा खम्भा माना गया, यह दीगर बात है कि यह मान्यता अघोषित थी, इसका संविधान में कहीं उल्लेख नहीं था।(14)

यद्यपि आजादी के बाद शासक वर्ग ने शुद्ध पश्चिमी आधुनिकता को देश में थोपने की काफी कोशिशें की। और पूंजीपति वर्ग की कोषिश भी यही रही कि वे समाज पर अपना वर्गीय दबदबा कायम रखे और उस रास्ते से पश्चिम की पूंजीवादी आदर्श को यहां स्थापित करे। लेकिन आजादी के बाद लोकतंत्र ने एक और ही शकल अख्तियार किया जिसे 'निष्क्रिय क्रांति' कहा गया, जो पूंजीपति वर्ग की कमजोरी को दर्शाता है निष्क्रिय क्रांति का विचार अंतोनियो ग्राम्शी की रचनाओं में मिलता है जिसे 1970 और 1980 के दशकों में कई भारतीय सिद्धांतकारों ने हिन्दुस्तान के पूंजीवाद को समझने में मददगार पाया। निष्क्रिय क्रांति

का विचार मूलतः उस स्थिति की तरफ इशारा करता है जिसमें सरमायादार वर्ग खुद को प्राक-पूँजीवादी ताकतों की अपेक्षा कमजोर पाता है, और इसलिए उसका जड़ से सफाया कर पाने में अपने को असमर्थ पाता है। अतः वह पश्चिमी पूँजीवाद विकास की तर्ज पर बदलाव न करके आहिस्ता-आहिस्ता राज्य की ताकत के उपयोग से बदलाव लाने की कोषिष करता है।(15) इस तरह हम अपनी आधुनिकता को एक अलग नजरिए से देख सकते हैं। इस नजरिए से देखें तो जिसे हम अपनी कमजोरी मान बैठे थे वही हमारी सबसे बड़ी ताकत है। हमारे यहां औद्योगिकीकरण कभी भी पूरी तरह ताकतवर वर्गों की शर्तों पर नहीं हो पाया और जमीन अधिग्रहण आदि के खिलाफ समाज में लगातार आंदोलन संघर्ष चलते रहे। मगर उससे भी बड़ी बात यह है कि हमारे यहां तमाम इंसानी रिश्ते केवल व्यक्ति-केन्द्रीयता द्वारा परिभाषित पैसे के रिश्ते बनकर नहीं रह गए। दूसरे शब्दों में कहें तो सरमायेदारी हमारे समाज में वो गहरी पैठ नहीं बना पायी जो विकसित पूँजीवादी देशों में देखने को मिलती है। आज भी हमारे समाज में रिश्तों का एक बहुत बड़ा दायरा पूँजीवाद के बाहर है।(16)

अगर इतिहास में झांके तो भारतीय लोकतंत्र के लिए पहला संकट 7वें दशक के आखिरी वर्षों में आया पंडित नेहरू की मृत्यु, चीन के बाद पाकिस्तान से युद्ध, कांग्रेस के आपसी झगड़े, कांग्रेसी संसदीय दल के नेता पद के लिए मोरारजीभाई और श्रीमती इंदिरा गांधी के बीच टकराव, श्रीमती गांधी का प्रधानमंत्री बनना, प्रधानमंत्री बनते ही रूपए का अवमूल्यन करना, डॉ. राममनोहर लोहिया का वंशवाद के खिलाफ गैर कांग्रेसवाद का नारा, तथा कांग्रेस के तीन महत्वपूर्ण क्षेत्रों- चौधरी चरण सिंह, बीजू पटनायक, अजय मुखर्जी का केन्द्रीय नेतृत्व के खिलाफ बगावत, चरण सिंह द्वारा 'भारतीय क्रांति दल' बीजू पटनायक 'उत्कल कांग्रेस' और अजय मुखर्जी द्वारा 'बांग्ला कांग्रेस' का गठन और अंततः हिन्दुस्तान के आठ राज्यों में कांग्रेस की पराजय एवं विपक्ष की संविद सरकारों का अस्तित्व में आना- एक के बाद एक घटी इन घटनाओं के चलते पहली बार भारतीय लोकतंत्र पर प्रश्नचिन्ह लगा। गौर से देखा जाए तो इसके केन्द्र में सत्ता की भागीदारी की आकांक्षा थी। यह संकट मूलतः कांग्रेस के भीतर अंतर्निहित, विपक्ष वाली अवधारणा, के खण्डित होने के कारण पैदा हुआ और पहली बार सत्ता में भागीदारी की विपक्ष की आकांक्षा भी प्रस्फुटित हुई। इससे पहली बार यह

बात उभर कर आयी कि भारत में लोकतंत्र का जो ढांचा विकसित हुआ था उसमें सबको हिस्सेदारी नहीं मिल सकी।(17)

इसी का विस्तृत रूप 1977 था। यह सही है कि बांग्लादेश युद्ध के बाद श्रीमती गांधी भारी बहुमत से सत्तासीन हुई, और पोखरन में पहला परमाणु परीक्षण कर अपनी शक्ति का अहसास कराया। लेकिन ये सारा कुछ चार- पांच वर्षोंमें ही समाप्त हो गया। जे.पी. आंदोलन, आपातकाल और 1977 में जनता पार्टी की जीत इसके प्रत्यक्ष प्रमाण थे। सत्ता में भागीदारी की बात तो दूर पहली बार लोगों को लगा कि कोई पार्टी लोकतंत्र नाम की संस्था को समाप्त भी कर सकती है। शायद इसीलिए 1977 को 'आजादी की दूसरी' और 'लोकतंत्र की पहली' लड़ाई की संज्ञा दी गई। 1977 में जिनकी सरकार बनी वे भी भारतीय लोकतंत्र को 'सबका' नहीं बना सके। विकल्प के अभाव में श्रीमती गांधी की वापसी हुई और उसके बाद संकटों के एक नए अध्याय का सिलसिला प्रारंभ हुआ। (18)

सिक्खों के एक हिस्से को लगा कि हिन्दुस्तान उनका नहीं है। वे खालिस्तान की मांग करने लगे। असम आंदोलन के जरिए असमिया लोगों की असमिता उभर कर सामने आयी। एन.टी.रामाराव और करुणानिधि के उद्भव में दक्षिण की पहचान का संकट दिखा। हिन्दुओं के एक बड़े तबके को धीरे-धीरे लगने लगा कि मुसलमानों के लिए कांग्रेस तुष्टीकरण की नीति अपनाती है और उनका ख्याल नहीं रखती। दलितों और पिछड़ों का मोहभंग राजननीतिक शकल अख्तियार करने लगा। श्रीमती गांधी और राजीव गांधी की हत्याएं हुई। इन हत्याओं के बाद भी कुछ मामूली विचलनों को छोड़कर हमारा लोकतंत्र चट्टान की तरह खड़ा रहा, तो इसलिए कि कहीं न कहीं इसकी जड़ें गहराई तक भारतीय समाज में मौजूद थी। यह बात दीगर है कि यह लोकतंत्र जटिल अंतर्विरोधों से जूझने के लिए अभिषप्त रहा।(19)

1989 में राष्ट्रीय मोर्चा का प्रयोग लोकतंत्र में इन्हीं जटिल अंतर्विरोधों को हल करने का एक असफल प्रयास था। जिन्हें हमारा लोकतंत्र सत्ता में भागीदारी नहीं दे सका था, अथवा जिनकी आकांक्षाएं अधूरी रह गई थी, उन्हीं को पूरा करने का एक संक्रमण कालीन

उपाय था 1989। ऐसे तबकों के नेता जो एक पार्टी में आ सकते थे उनको लेकर जनता दल बना। ऐसी क्षेत्रीय पार्टियां जो जनता दल जैसी पार्टी में नहीं आ सकती थी, उनके लिए राष्ट्रीय मोर्चा बना और वामपंथी एवं भाजपाई, जो न तो जनता दल में आ सकते थे और न ही राष्ट्रीय मोर्चा में, उनसे गठजोड़ करके सीटों का तालमेल किया गया वी.पी.सिंह सरीखे नेता जब राजनीति के इस 'थ्री टीयर' सिस्टम को एक अभिनव प्रयोग की संज्ञा देते हुए भारतीय राजनीति के व्याकरण बदलने जैसा बताते हैं तो उसमें आंशिक सच्चाई भी रहती है। बहरहाल मण्डल मुद्दे के जरिए दलित पिछड़ों की भागीदारी बढ़ी और मंदिर-मस्जिद विवाद के जरिए हिन्दुत्व को सत्ता में पहुंचने का अवसर मिल गया। इस समूची प्रक्रिया में लोकतंत्र न तो जनता के प्रति जवाबदेह बना और न ही समाज के अंतिम पायदान पर खड़े बेबस लाचार लोगों की आकांक्षाओं का प्रतिनिधि बन सका। देर नहीं लगी सामाजिक न्याय, धर्मनिरपेक्षता और हिन्दुत्व की असलियत सामने आ गई। भ्रष्टाचार, जातीय-धार्मिक उन्माद, उदारीकरण के नाम पर पूंजी का नंगा नाच, अपराधीकरण और इन सबके बीच बेकारी-महंगाई से जूझते आम भारतीय जन – यही है हमारे मौजूदा लोकतंत्र का यथार्थ।

विगत दो-तीन सालों से हमारे यहां लोकतंत्र को लेकर एक नई बहस चल रही है, जो मार्क्सवाद प्रेरित है। अरुंधतिराय समेत कई लेखक और बुद्धिजीवी भारतीय लोकतंत्र की आलोचना में मुखर होकर सामने आए। लोकतंत्र की इस मार्क्सवाद-प्रेरित आलोचना का मूल आधार उसके तथाकथित वर्ग-चरित्र से है। इनका मानना था (और है) कि यह लोकतंत्र झूठा है, क्योंकि इसकी अंतर्वस्तु पूंजीवादी है। अतः ऐसे आलोचक लोकतंत्र को सिद्धांततः खारिज करते हैं, परन्तु इनके पास कोई ठोस विकल्प नहीं है, फलतः यह आलोचना मात्र एक चटखदार नारा बनकर रह गई।(20)

इसी तरह अन्ना हजारे आन्दोलन के वजूद में आने के बाद एक और नई बहस का आगाज हो गया। लोकपाल बिल को पारित न करा पाने के मुद्दे को लेकर राजनीतिक खेमे को नकारा एवं भ्रष्ट करार देते हुए सड़क पर उतर जाना- यह अपने आप में कई सवाल खड़े करता है। इस आंदोलन से सबसे जरूरी जो सवाल उठ कर सामने आता है वह है लोकतंत्र में नुमाइंदगी को लेकर है। क्या जनता का काम सिर्फ पांच सालों में एक बार

वोट डालकर अपने नुमाइंदे चुन लेना है? क्यों उसे यह हक नहीं कि वह जब भी जरूरी हो, अपनी आवाज सुनवाने के लिए सड़कों पर उतरे? इस तरह लोकतंत्र बनाम जनवाद का एक विरोध खड़ा होता है जो इतिहास में पहली बार नहीं होता और कई संदर्भों में दुनिया के अन्य देशों में यह विरोध ठीक इसी तरह खड़ा किया जा चुका है। अंततः कहा जा सकता है कि लोकतंत्र में सत्ता सचमुच जनता के हाथ में सौंपने की आकांक्षा प्रतिध्वनित होने लगी है। पारदर्शिता और हर तरह की सूचनाओं को जनता तक पहुंचाने की मांग शायद इसी प्रतिध्वनि की पहली कड़ी है। इस अनुगूंज को बिना सुने न तो लोकतंत्र बच सकता है और न ही उसके नाम पर खड़ी की गई आलीषान इमारतें। लोकतंत्र के बारे में शायद विंस्टन चर्चिल की यह टिप्पणी सही थी –

संदर्भ एवं टिप्पणियां

1. मोहनदास करमचंद गांधी, हरिजन, 6 अप्रैल 1934 एक पत्र का जवाब देते हुए।
2. 1945 में पंडित जवाहरलाल नेहरू को गांधी द्वारा लिखे एक पत्र से। इस पत्र में गांधी ने 'हिन्द स्वराज' में अपने द्वारा व्यक्त विचारों के प्रति दृढ़ता व्यक्त करते हुए नेहरू को असली वारिस भी माना था।
3. डॉ. भीमराव अम्बेडकर के सुप्रसिद्ध आलेख 'एनहिलेशन ऑफ कास्ट' से।
4. अरुण पाण्डेय – हमारा लोकतंत्र और जानने का अधिकार। वाणी प्रकाशन पृ.08
5. आदित्य निगम – जनतंत्र और जनवाद के बीच, कुछ सैद्धांतिक सवाल, पत्रिका प्रतिमान (समय समाज और संस्कृति) जन.–जून. 2014 ISSN 2320-8201 पृष्ठ 11 वाणी प्रकाशन
6. शाहिद अमीन (1995)– इवेंट, मैटाफर मेमरी : चोरी चौरा 1922, 1992 ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस नई दिल्ली पृ. 12–13
7. देखे तपती राय (1994)– पृ. 12–13 द्वारा आदित्य निगम – जनतंत्र और जनवाद के बीच, कुछ सैद्धांतिक सवाल, पत्रिका प्रतिमान (समय समाज और संस्कृति) जन.–जून. 2014 ISSN 2320-8201 पृष्ठ 12 वाणी प्रकाशन

8. सुमित सरकार (2010)– द स्वदेशी मूवमेंट इन बंगाल, परमानेंट ब्लेक रानीखेत पृ. 12–13
9. वही ।
10. आदित्य निगम – जनतंत्र और जनवाद के बीच, कुछ सैद्धांतिक सवाल , पत्रिका प्रतिमान (समय समाज और संस्कृति) जन.–जून. 2014 ISSN 2320-8201 पृष्ठ 13
11. यह सवाल एडमण्ड बर्क जैसे लोग ब्रिटिश संसद में उठा रहे थे कि उपनिवेशों में स्थानीय संस्कृति और संस्थाओं को रौंद कर नहीं बल्कि उसके अनुसार शासन होना चाहिए ।
12. आदित्य निगम – जनतंत्र और जनवाद के बीच, कुछ सैद्धांतिक सवाल , पत्रिका प्रतिमान (समय समाज और संस्कृति) जन.–जून. 2014 ISSN 2320-8201 पृष्ठ 13 वाणी प्रकाशन
13. कांस्टीट्यूट एसेम्बली डिबेट (1989)– खण्ड 10 ऑफिसियल रिपोर्ट 1979
14. अरुण पाण्डेय – हमारा लोकतंत्र और जानने का अधिकार । वाणी प्रकाशन पृ.08
15. निष्क्रिय क्रांति के विचार की विस्तृत चर्चा के लिए देखें – अशोक सेन (1976), ब्युरोक्रेसी ऐण्ड सोषल हेजेमनी : एसेज इन ऑनर ऑफ प्रो. एस.सी. सरकार, पीपल्स पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली , सुदीप्त कविराज (2010/1987) 'द पैसिव रेवाल्यूषन ऐंड इंडिया : अ क्रिटिक, कविराज (2010) ट्रेजेक्टरीज ऑफ द इण्डियन स्टेट : पॉलिटिक्स ऐण्ड आइडियाज, परमानेंट ब्लेक , रानीखेत, और पार्थ चटर्जी (1986) नेषलिस्ट थॉट इन द कोलोनियल वर्ल्ड : अ डिरिवेटिव डिस्कोर्स : जेड बुक्स व यूनाइटेड नेषंस युनिवर्सिटी टोक्यो व लंदन ।
16. ये तर्क आदित्य निगम ने विकसित किए हैं देखे आदित्य निगम (2014) मोलेकुलर इकोनामीज : इज देयर ऐन आउटसाइड टू कैपिटल एवं आदित्य निगम (2011) डिजायर मेम्ड डिवेलपमेंट , पेंगुइन, बुक्स नई दिल्ली ।
17. अरुण पाण्डेय – हमारा लोकतंत्र और जानने का अधिकार । वाणी प्रकाशन पृ.09
18. वही ।
19. वही पृ. 10 ।

20. आदित्य निगम – जनतंत्र और जनवाद के बीच, कुछ सैद्धांतिक सवाल , पत्रिका प्रतिमान (समय समाज और संस्कृति) जन.-जून. 2014 ISSN 2320-8201 पृष्ठ 2
-